अंक 1 / अप्रैल 2026

वार्षिक
द्विभाषी
प्रकाशन

बरामदा

पत्रकारिता विभाग , कालिंदी कॉलेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय
राष्ट्रीय मूल्यांकन एवं प्रत्यायन परिषद द्वारा A+ श्रेणी प्राप्त

घर की परतें

घर स्थिर नहीं,

बदलती परिस्थितियों में नया अर्थ लेता

कुरमा घर की चुप्पी

माहवारी में स्त्रियों
की जरूरतें, पीड़ा और असुरक्षित एकांत

मैथिली लोकगीतों
में बेटियों की
पहचान और

संघर्ष की चार दीवारें
घर में सपनों का क्षरण होना

प्रस्तुत चित्र एवं कलाकृतियां टीम *बरामदा* के **मौलिक कार्य** हैं, यदि नहीं तो उसका स्त्रोत उल्लेखित है

लेखक-सूचि

तान्या राज - कुरमा घर
ऋषिका गुप्ता - मीट टू स्लीप
पलक कश्यप - अपनेपन का आँगन
निधि झां - समदाउन
आंचल गुप्ता - घर और इमोशनल लेबर

कवर

डिज़ाइन- अनुजा राय
फ़ोटो- सौम्या, स्तुति, समृद्धि

DISCLAIMER:

1. यह एक छात्र-संचालित प्रकाशन है। इसमें व्यक्त विचार पूरी तरह से लेखकों और योगदानकर्ताओं के हैं, और ज़रूरी नहीं कि वे विभाग या कॉलेज प्रशासन के विचारों को दर्शाते हों।
2. हालाँकि, सामग्री की सटीकता और प्रामाणिकता सुनिश्चित करने के पूरे प्रयास किए गए हैं, फिर भी संपादकीय टीम किसी भी त्रुटि या चूक के लिए उत्तरदायी नहीं है।
3. सभी सामग्री कॉपीराइट द्वारा सुरक्षित है और बिना अनुमति के इसे पुन: प्रस्तुत नहीं किया जा सकता।
4. यह पत्रिका केवल रचनात्मक, शैक्षिक और सूचनात्मक उद्देश्यों के लिए है; यह किसी भी रूप में हानि, द्वेष, गलत सूचना या भेदभाव को बढ़ावा नहीं देती है।

पाठकों को प्रोत्साहित किया जाता है कि वे सामग्री पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार करें।

प्राचार्या की कलम से

पत्रकारिता वह कला है जिसके द्वारा हम उन चीजों को देख पाते हैं जिन्हें दूसरे अनदेखा कर देते हैं, और स्पष्टता एवं जिम्मेदारी के साथ अपनी बात रख पाते हैं। यह संवाद, चिंतन और जागरूक भागीदारी को प्रोत्साहित करके समाज की अंतरात्मा को आकार देती है। कृत्रिम बुद्धिमत्ता (आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस) से प्रभावित इस युग में, जहाँ सत्य और असत्य अक्सर एक समान प्रतीत होते हैं, पत्रकारिता का अनुशासन और भी महत्वपूर्ण हो जाता है, जो हमें प्रश्न पूछने, पुष्टि करने और सहानुभूति के साथ समझने के लिए प्रेरित करता है।

कालिंदी विश्वविद्यालय में, हमारा पत्रकारिता विभाग ऐसे विद्यार्थियों को पोषित करता है जो ईमानदारी के साथ प्रश्न पूछते हैं और सृजन करते हैं। विभाग की पत्रिका इस भावना को खूबसूरती से दर्शाती है। इसका हर पृष्ठ हमारे विद्यार्थियों की जिज्ञासा और कल्पनाशीलता की चिंगारी से परिपूर्ण है। यह विचारशील जुड़ाव और सार्थक संवाद के प्रति प्रतिबद्धता का प्रतिबिंब है। यह विभाग महाविद्यालय के सबसे मजबूत स्तंभों में से एक है, और यह पत्रिका इसका जीवंत प्रमाण है।

प्रो. मीना चरांदा
प्राचार्या

सुश्री ममता
विभाग प्रभारी

बरामदा एक ऐसा स्थान है, जो हमारे घर को बाहरी दुनिया से जोड़ता है। हमारे जीवन के लिए अंदर की दुनिया और बाहर की दुनिया, दोनों ही ज़रूरी हैं। घर हमें सुरक्षा, आराम और अपनेपन का एहसास देता है। यह सिर्फ़ एक भौतिक जगह नहीं है, बल्कि एक ऐसा स्थान है जिसे हम अपने प्रियजनों के साथ साझा करते हैं और जो उस जगह के साथ हमारे भावनात्मक जुड़ाव को परिभाषित करता है। यह वह जगह है जहाँ हम यादें बनाते हैं और दिन भर की थकान के बाद शांति पाते हैं।

यह पत्रिका छात्रों की रचनात्मकता और विविध दृष्टिकोणों को दर्शाती है। ठीक वैसे ही जैसे एक असली बरामदा घर के अंदर को बाहरी दुनिया से जोड़ता है, यह पत्रिका भी एक ऐसे मंच का काम करती है जहाँ विचार, कहानियाँ और आवाज़ें समाज से मिलती हैं। बरामदे की ही तरह, मुझे उम्मीद है कि यह पत्रिका भी हमारे छात्रों के लिए सीखने का एक स्थान और दुनिया को देखने की एक खिड़की बनेगी।

डॉ आहना चोपड़ा
सहायक प्रोफेसर

घर सिर्फ़ एक जगह नहीं है, यह एक एहसास है जिसे हम अपने भीतर संजोकर रखते हैं। '***बरामदा***' के इस अंक में, हमारे छात्राएं अपने लेखन के ज़रिए 'घर' के कई अर्थों को टटोलते हैं- जो बेहद निजी, चिंतनशील और दिल को छू लेने वाली हैं। बचपन की यादों से लेकर अनजान जगहों पर अपनेपन की तलाश तक, हर रचना उन शांत भावनाओं को समेटे हुए है जो हमारे व्यक्तित्व को आकार देती हैं।

एक विभाग के तौर पर, हमें एक ऐसा मंच तैयार करने पर गर्व है जहाँ युवा अपनी बात कह सकें, सवाल उठा सकें और एक-दूसरे से जुड़ सकें।

मुझे उम्मीद है कि इन पन्नों के बीच आपको भी 'घर' जैसा अपनापन महसूस होगा।

बरामदा

कार्टून

मतलब परस्त

मनुष्य अपनी सुविधा और स्वार्थ के अनुसार बेजुबान जानवरों के जीवन का मूल्य तय करता है, जहाँ उपयोगी होने पर उन्हें 'माता' का दर्जा मिलता है और अनुपयोगी होने पर उन्हें उनके घर से बेदखल कर दिया जाता है।

जागृति चौधरी

चित्रकथा

एक पुकार घर की भी

पूजा खोश्या

आमुख

बड़े रे जतन

मैथिली लोकगीतों और 'समदाउन' के माध्यम से यह दिल को छू लेने वाला द्वंद्व उभरता है कि बेटियाँ जीवनभर 'दो घरों' के बीच अपनी पहचान और अधिकार तलाशती रहती हैं, पर असल में उन्हें पराया ही समझा जाता है।

निधी झा

नज़रिया

मेरा आश्रय

अपने ही भीतर दबे हुए डर, आलस और अनकहे शब्दों से जूझते हुए, लेखन एक निजी शरण बनकर उभरता है।

अनुजा राय

कुरमा घर

महिलाओं को अपने माहवारी के समय क्या चाहिए होता है?
इन औरतों की पीड़ा खुद इनके पति या घर वाले तक नही समझते।
कई औरतों ने तो कुरमा घरों में सांप या बिच्छू के काटने से भी अपनी जान गंवाई है।

तान्या राज

संघर्ष की चार दीवारें

कुछ बच्चों के सपने बेसमेंट के पानी में
डूबते हैं- कुछ के सपने घर की चौखट
पर ही दम तोड़ देते हैं।

पूजा खोश्या

मीट टू स्लीप

"औरत अनाज उगा भी सकती है, पका भी सकती है, बच्चा पैदा भी कर सकती है, बड़ा भी कर सकती है। देखने जाएँ तो औरतों को मर्द की कौनो खास ज़रूरत वैसे है नहीं। और ई बात अगर औरतों को पता चल गई, तो मर्द बेचारा का बाजा ना बजाएगा"

ऋषिका गुप्ता

घर और भावनात्मक श्रम

भावनात्मक श्रम घर को जोड़ने वाला वह अदृश्य और अमूल्य कार्य है, जिसे अक्सर आर्थिक योगदान न मानकर केवल महिलाओं की जिम्मेदारी समझ लिया जाता है।

आँचल गुप्ता

//जागृति चौधरी//

अपनेपन का आँगन

कहानियों और फिल्मों में यह मिठास और कड़वाहट से भरे इन रिश्तों का बखान कभी प्यार तो कभी डांट के रूप में होता है।

पलक कश्यप

परदे पर अपना शहर

सिनेमा में भोपाल और उसके आस-पास का चित्रण सत्ता की भव्यता से लेकर 'ग़ुल्लक' और 'पंचायत' जैसी जमीनी सादगी तक घर के विविध और आत्मीय रूपों को जीवंत करता है।

इरा व्यास

घर हर किसी के लिए सुरक्षित नहीं है

घर केवल चार दीवारें नहीं, बल्कि वह स्थान है जहाँ सुरक्षा, सम्मान और मानसिक सुकून मिलना चाहिए; परंतु कड़वी सच्चाई यह है कि कई महिलाओं के लिए उनका अपना घर ही मानसिक दबाव और असुरक्षा का केंद्र बन जाता है।

अंशिका कटियार

संपादक मंडल

अनुजा राय

मुख्य संपादक

कहते हैं कि जब पत्रकार सवाल पूछना बंद कर देता है, तब लोकतंत्र चुप होने लगता है। अख़बार का हर पन्ना इतिहास का एक अधूरा मसौदा होता है। और यह भी कि पत्रकार का पहला दायित्व सरकार नहीं, जनता होती है। ख़ैर, आदर्शवाद से परे, यह भी सच है कि पत्रकार पूरी तरह कभी स्वतंत्र नहीं होता। असली सवाल यह नहीं कि उस पर दबाव है या नहीं, बल्कि यह है कि वह किस दबाव के आगे झुकता है और किसके आगे नहीं। असल में पत्रकारिता अक्सर सत्ता, समाज, और संपादन के बीच एक जटिल समन्वय होती है। यही समन्वय हमारे वर्तमान और भविष्य को गढ़ता है।
इस संसार में सभी जीव-जंतु, जानवर और इंसानों में एक प्रमुख समानता है । सबकी एक यही कोशिश रहती है कि इस क्षणभंगुर जीवन में उस 'घर' का निर्माण कर सकें क्योंकि घर केवल कोई भौतिक स्थान नहीं, बल्कि एक एहसास होता है ।

'**बरामदा**' - सभी लेखकों के योगदान और संपादक मण्डल के अथक प्रयासों का परिणाम है, जिसके बिना इसकी कल्पना कर पाना भी असंभव था । हर लेख 'घर' के एक अलग पहलू को छूता है, और इसका डिज़ाइन, लेआउट और संपादन करना मेरे लिए एक अत्यंत सुखद अनुभव रहा । यह पत्रिका मेरे जीवन में प्रेरणास्रोत का कार्य करेगी और मुझे भविष्य की चुनौतियों का सामना करने के लिए प्रेरित करेगी । हमें आशा है कि हमारा यह प्रयतन्न आपके दिल और दिमाग में **घर** कर सकेगा ।

पूजा खोश्या

वरिष्ठ कॉपी संपादक

जब मैं पहली बार इस संपादकीय परिवार से जुड़ी, तो लगा जैसे एक नए घर की दहलीज़ पर क़दम रखा हो। थोड़ी उत्सुकता, थोड़ा संकोच, पर मन में एक अपनापन। धीरे-धीरे इस टीम की मेहनत और लगन ने मुझे यह एहसास दिला दिया कि घर वह नहीं जहाँ हम रहते हैं, बल्कि घर वह है जहाँ हम कुछ बना रहे होते हैं।
इस मैगज़ीन में हमने 'घर' को उसके हर रूप में समेटने की कोशिश की है; जो यादों में, रिश्तों में, और शब्दों में बयां होता है। उम्मीद है यह अंक आपको भी घर जैसा ही सुकून दे।

इरा व्यास

उप-संपादक

'बरामदा' के इस अंक पर काम करना मेरे लिए एक बहुत ही नया और प्यारा अनुभव रहा है। पहली बार अपनी मातृभाषा हिंदी में लिखकर मुझे अपनी जड़ों से जुड़ने का मौका मिला। अंग्रेज़ी माध्यम में पढ़ाई के बीच, हिंदी विभाग की उप-संपादक के तौर पर यह मेरी एक छोटी सी कोशिश है। उम्मीद है कि मेरा यह पहला प्रयास आप सभी को पसंद आएगा।

अंशिका कटियार

सहायक संपादक

सर्वश्रेष्ठ विचार वे हैं जिन्हें हम साझा करते हैं और जिनसे हम एक-दूसरे को प्रेरित करते हैं।"
— राल्फ वाल्डो इमर्सन
मेरे लिए इस मैगज़ीन के साथ काम करना बहुत अच्छा अनुभव रहा। 'बरामदा' ने मुझे अपने विचार लोगों तक पहुँचाने का मौका दिया। मैं अपने शिक्षकों और साथियों का दिल से धन्यवाद करती हूँ, जिन्होंने हर समय मेरा साथ दिया।
इस मैगज़ीन के ज़रिए मैंने अपने विचार कहना, साथ में काम करना और धैर्य रखना सीखा। उम्मीद है आपको यह अंक अच्छा लगेगा।

बड़ रे जतन सँ सिया धिया पोसलहुँ सेहोरघुवंशी नेने जाय

निधि झा

बिहार के मिथिला क्षेत्र की मैथिलि भाषा की इन दो पंक्तियों का अर्थ है कि "बहुत प्यार से बेटी सिया को पाला पोसा और अब उसको भगवान राम अपने साथ ले जा रहे हैं।" अब आप सब को लग रहा होगा कि यहाँ भगवान राम और सीता की चर्चा क्यों हो रही है। वाज़िब सी बात है, ये सवाल किसी के भी ज़हन में आएगा। तो आपको बता दें हमारे मिथिला में बेटी को सीता और दामाद को राम का रूप मानते हैं। और बिहार की हर शादी में इस तरह के गीत गाए जाते हैं और इन गीतों को 'समदाउन' कहते हैं। इस गीत को बेटी की शादी में गाया जाता है और बताया जाता है की बेटी के दो घर होते हैं: एक मायका और एक ससुराल। अब आपको बता दें कि यह द्वंद्व अभी भी है कि आखिर बेटी का अपना घर कौन सा है ? लेकिन ये बहुत बड़ी विडम्बना है की लड़कियों के दो घर होते हैं, लेकिन हर बार यह सुनने को मिलता है कि 'दूसरे घर जाएगी' और 'पराये घर से आई है'।

इसी के साथ कुछ और समदाउन की पंक्तियाँ सुनिए। बचपन में जब ये सुनती थी तब कुछ ख़ासा फर्क नहीं पड़ता था, लेकिन अब बड़ों के बीच मैं भी इन पंक्तियों को सुनकर खूब रोती हूँ। जैसे:

सून भवन केने जाए छी हे बेटी
अयोध्या में बाजत बधाई हे

इस पंक्ति में कहा जा रहा है की बेटी माँ के घर को सूना करके जा रही है और ससुराल में ख़ुशी का माहौल है। शादी केवल दो लोगों का मिलन नहीं, बल्कि दो परिवारों और दो घरों का मिलन होता है लेकिन वहीं दो लोगों में से किसी एक को अपना घर छोड़ना पड़ता है

सून भवन केने जाए छी हे बेटी अयोध्या में बाजत बधाई हे

हिन्दू परंपरा के अनुसार ऐसा लड़कियों को करना पड़ता है। और शायद इसी परंपरा के वजह से हिंदू उत्तराधिकार (संशोधन) अधिनियम, (Hindu Succession Act, 2005) के तहत भारत में बेटियों को अपने पिता की पैतृक संपत्ति में बेटों के बराबर जन्म से अधिकार लेने में इतने साल लग गए। आपको बता दें कि कागज़ पर तो ये अधिनियम 9 सितम्बर, 2005 में पारित हो गया था। लेकिन समाज में आज भी बेटियों को यही कहा जाता है कि तुम्हारे हिस्से की संपत्ति तुम्हारी शादी में खर्च हो चुकी है। राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण-5 (2019-21) के आंकड़ों के अनुसार, भारत में केवल 8.3% महिलाएं ही ज़मीन की अकेली मालिक हैं, जबकि 13% महिलाएं घर की मालिक हैं। इससे ये साफ़ पता चल रहा है कि ज़मीनी हिस्सेदारी में महिलाओं की भागीदारी बेहद कम है।

चलिए किताबी आंकड़ों की बातों से हटकर थोड़ा सामाजिक और मानसिक तौर पर बात करते हैं। एक लड़की अपने मायके से ये सुनकर निकलती है :

जखन सुनयना डोली दिस ताकथि, सीता चली भेली कनैत अधीर
भरलो आंगन जतेक नर-नारी, ककरहु हृदय नहि थीर
चहुँदिस रोबथि सखी रे सहेलिया, आमा के झहरनि नयन मोती नीर
किए जे बेटी जानकी पोसल, उड़ि भेली देश पराय
भनहि विद्यापति सुनू हे सुनएना, इहो थिक नगर बेबहार

प्रस्तुत चित्र में - प्रज्ञा झा
चित्र - थेयासिनमैटिक

प्रस्तुत चित्र में - प्रज्ञा झा
चित्र - थेयासिनमैटिक

और ससुराल पहुँच कर सुनती है :

दुलहिन धीरे-धीरे चलियौ ससुर गलिया,
दुलहिन धीरे-धीरे चलियौ ससुर गलिया।
दुलहिन सासु सँ बोलियौ मधुर बोलिया।
दुलहिन धीरे-धीरे चलियौ ससुर गलिया।

इस गीत को बिहार की स्वर कोकिला शारदा सिन्हा जी ने अपनी आवाज़ दी है और बिहार के लोकगीत में बहुत प्रसिद्धि पाई है। इस गीत के अलावा उन्होंने मैथिलि विवाह के लिए काफ़ी रचनाओं को रचा है।

अब मैं आपको इन दोनों गीतों का मतलब बताती हूँ। पहले गीत में जहाँ बेटी के जाने से माँ परेशान है, वहीं दूसरे में जब बेटी ससुराल पहुँचती है तो उसे शादी, और रिश्ते संभालने के नियमों को समझाया जा रहा है। हाँ, ये सब हँसी ठिठोली का हिस्सा माना जाता है, लेकिन ये ठिठोली रोज़मर्रा के जीवन का हिस्सा बन जाती है।

बिहार में विवाह गीतों के माध्यम से बहुत कुछ बताया जाता है लेकिन इन सब गीतों में हम एक महिला के लिए दो घरों वाला मौजूद द्वंद्व ज़रूर देखते हैं। हमें देखने को मिलता है कि कैसे एक लड़की के लिए, जो कि शादी के बाद अब एक विवाहित स्त्री बन चुकी है, दोनों घर उसके लिए अपने होकर भी अपने नहीं होते हैं।

यही बेटी जब अपने तथाकथित घर (ससुराल) पहुँचती है तो कम दहेज लाने के लिए जला दी जाती है। यही बेटी अगर माँ बनने में देर कर दे तो ना जाने किन-किन तानों को झेलती है। अब आप ही देख सकते हैं कि ये 'अपने घर' वाली धारणा एक लड़की को कितना कुछ झेलना सिखाती है। बात बस अपने घर की नहीं होती, बात अधिकार की होती है क्योंकि घर ईंट और सीमेंट से नहीं बल्कि स्वतंत्रता, अधिकार और सम्मान से बनता है। और एक बेटी, महिला के रूप में इसी की तो तलाश में रहती है। आपको क्या लगता है, बेटियों का कोई घर होता है ?

मेरा आश्रय

लेखन व रूपांकन: **अनुजा राय**

ई दिनों बाद लिखने का ख़्याल आया। मगर हम शब्द सोचने से पहले ही उसकी तक़दीर क्यों लिख देते हैं? नींद की आख़िरी परत में, दूर से आती किसी धुंधली आवाज़ की तरह, मैं अपना चेहरा देखती हूँ। जैसे झींगुर की एकरस तुन-तुन सुनकर उसकी आदत हो जाती है, बिना उसकी लय महसूस किए, वैसे ही मैंने भी बारीकियाँ समझे बिना बस चेहरे की बाहरी लकीरें देखना सीख लिया है, लेकिन आज किसी ने मेरे चेहरे को हाथों से पकड़कर आईने के सामने रख दिया। खाल के नीचे कुछ जल रहा है, और छाती से एक कड़वा घूँट उफान भरकर मेरे गले में पिघल जाता है। दुनिया घूम रही है, और मैं जमी-ठहरी, होश और बेहोशी के बीच, एक पैर दूसरे घुटने पर टिकाकर लेट जाया करती हूँ। बचपन में कविताएँ रटी जाती थीं, फिर समझ आने लगती थीं। किशोरावस्था में आते-आते, वे जिनके आस-पास कोई नहीं होता, किताबों पर कोहनी टिकाकर लिखने पर यक़ीन करने लगते हैं। लिखते हैं, सुनाते हैं। जैसे कोई रुई वाला गुच्छा उड़ता है, भीगता है, फिर उलझ कर धूल से फूल जाता है, वो कविताएँ भी बैठ जाती हैं। डायरियाँ किताबों और कपड़ों के नीचे, अलमारी के पीछे, बक्सों में बंद कर बिस्तर में घुसा दी जाती हैं; लिखने से डर लगता है, लिखे हुए पर शर्म आती है, और हम शब्दों को दबा देते हैं। जब महसूस करना चाहती हूँ, डर से वह ख़्याल ही निगल जाती हूँ, उसे पेट की आग में ठेल देती हूँ। मेरा शरीर मुझे अपने ही ख़्याल पलटने नहीं देता, मुझे सुन्न रखना चाहता है। अपना ही लिखा फिर से पढ़ने में झनझनाहट होती है... रोज़मर्रा के नशे में दो पल होश के जब आते हैं, तो मैं उबल जाना चाहती हूँ। मगर लगता है मैं ख़ुद को एक शांत तालाब के नीचे दबा चुकी हूँ, जो न उफनता है, न बहता है। मेरा आलस, मेरा कौतूहल, मेरी ख़ुद की झिझक मुझपर काई की तरह चढ़ जाती है। कमरे में टंगी एक धुंधली तस्वीर मेरी असलियत है, जिसे मैं लिखकर भूल जाना चाहती हूँ। पलटूँगी तो सामने पड़ी कुर्सी पर एक ढेर और जुड़ जाएगा, जिस पर पहले से मेरी लाखों उम्मीदों का पहाड़ लदा है। उस कुर्सी पर रखे कपड़े बस खिड़की से झांकती आँखों पर चढ़ाने के लिए हैं। मुझे लगता है, जिस दिन मैं उस कुर्सी को साफ़ कर दूँगी, मैं वो बन जाऊँगी जिसे मैं आईने में देखना चाहती हूँ। मगर मैं उसी कंबल से लिपटी रहती हूँ जो मैं नहीं हूँ। उसमें छेद है, उसे जलाकर उधड़ने से रोक देती हूँ। लिखते हुए मैं भूल गई कि मैंने शब्दों का क्या अंजाम सोचा था। मुक्तिबोध ने कहा है, "हमारे आलस में भी योजना छिपी रहती है।" मुझे लगता है, जो मुझसे नहीं हुआ, वह मेरी दुनिया नहीं। कई दिनों बाद लिखने का ख़्याल आया। जैसे सूखे आँगन में पहली बारिश की बूंद धीमे से उतर आई हो। जैसे सीने में कोई अधूरी साँस फिर से हलचल करने लगी हो। और शायद इसी बीच, बिना किसी घोषणा के, यह एहसास भी उग आता है कि लिखना केवल एक निजी क्रिया नहीं है। यह उस दुनिया से रिश्ता बनाने का तरीका है, जिसे हम जीते तो हैं, पर समझने से डरते हैं। अब जब मैं पीछे मुड़कर देखती हूँ, तो लगता है कि यह जो "कई दिनों बाद लिखने का ख़्याल" आया था, वह अचानक नहीं था। वह धीरे-धीरे जमा हुआ था, जैसे टपकते हुए नल की एक-एक बूंद से घड़ा भर जाता है। लिखना अब केवल एक संभावना नहीं रह गया है। यह एक **आश्रय** है, जहाँ लौटना अब टाला नहीं जा सकता।

"लिखना अब केवल एक संभावना नहीं रह गया है।
यह एक आश्रय है, जहाँ लौटना अब टाला नहीं जा सकता।"

//जागृति चौधरी//

मतलब-परस्त

जागृति चौधरी

वैसे तो लखीमपुर की गलियाँ और गाँव, दोनों में ही आवारा जानवरों का राज है। कुछ लोगों को ये बेज़ुबान डरावने लगते है, तो कुछ को लगता है कि इनमें चित्त की कमी है । इन जानवरों के जीवन को मनुष्य के जीवन जितना मूल्यवान नहीं समझा जाता है। वैसे सभी जानवरों पर यह बात लागू नहीं होती है क्योंकि मनुष्य ने इन्हें भी श्रेणियों में विभाजित कर रखा है। अगर गाय दूध दे रही है तो उसे माता का दर्ज़ा मिल रहा है, वहीं दूसरी ओर जब बछड़े या बैल को सड़क पर देखते हैं तो किसानों के अलावा किसी को उनका मोल नहीं दिखता है। आज के दौर में जहाँ टैक्टर, थ्रेसर जैसी मशीनी सुविधाएँ हैं तो किसानों को भी उनका होना फसल के लिए बस खतरा मात्र लगता है। अगर बायसन हो तो कुछ सरकारी लोगों को उसका मोल बहुत अच्छे से याद आ जाता है। वो गाय माता की तरह उतना श्रेष्ठ और पूजनीय नहीं है, लेकिन विदेशी बाजार में उसके शरीर का भी बहुत मूल्य है।

ये बेज़ुबान तो मनुष्यों को अच्छा मानते हैं। क्यों ? क्योंकि इंसान इन्हें सड़कों पर रहने देता है और कभी-कभी कुछ खाने को भी दे देता है । इंसान हो या जानवर, कोई भी अपने संगी-साथी और अपना घर नहीं छोड़ना चाहता है। लेकिन फिर भी घर छूट ही जाता है और उसे उचित भी करार दे दिया जाता है, जैसे कि अपना शहर छोड़ना आज सफलता को दर्शाता है। वहीं जानवरों को उनके इलाके से जबरन कहीं दूर ले जाकर छोड़ दिया जाता है । अपने मतलब के लिए इंसान खुद का घर छोड़ता है, तो जानवरों का छुड़वा देता है।

मनुष्य है ही ऐसा - ***मतलबपरस्त***।

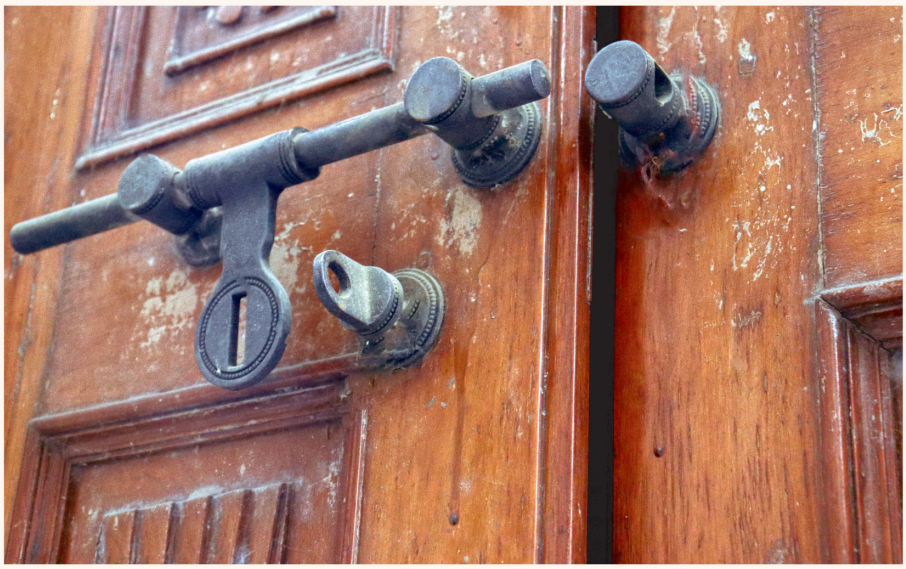

एक पुकार घर की भी

पूजा खोश्या

बरामदा

ये घर जो आज जर्जर नज़र आ रहे हैं, कभी ज़िंदा हुआ करते थे। इन आँगनों में माँ की आवाज़ गूँजती थीं। ये दीवारें आज भी हमारे हँसने और रोने की गवाही देती हैं। ईंट और पत्थर से तो केवल घर की दीवारें खड़ी हो सकती हैं, लेकिन ये तो कभी किसी की पूरी दुनिया हुआ करते थे।

फिर उन लोगों ने शहर की ओर रुख कर लिया – किसी ने रोज़गार के लिए, किसी ने पढ़ाई के लिए, तो किसी ने बेहतर ज़िंदगी की तलाश में। सोचा था, कुछ सालों की बात है और फिर घर लौट आएंगे। मगर वो "कुछ साल" कभी खत्म नहीं हुए। उनकी उलझी ज़िंदगी ने उन्हें पीछे मुड़कर देखने की फुर्सत भी नहीं दी।

और घर..... बस इंतज़ार करता रहा।

दरवाज़ों पर ताले ज़ंग खाने लगे। दीवारें दरकने लगीं, और उन दरारों में खामोशी भर गई। हँसती खेलती दीवारें भी अब मुरझाने लगी हैं, परत दर परत, जैसे घर खुद अपना दर्द बयान कर रहा हो। उस चौखट पर आज भी तुम्हारी ठोकर के निशान हैं, लेकिन शायद वे ज़िंदगी की दौड़ में ज़्यादा ही आगे निकल गए हैं..... घर टूट रहा है, पर भूला नहीं है। क्योंकि घर कभी नहीं भूलता। वो हर मौसम, हर बारिश, हर सर्द रात में अपने लोगों को पुकारता है। मगर अफसोस, उसकी आवाज़ सुनने वाला कोई नहीं।

फ़ोटो वीथ बरामदा द्वारा

बरामदा

कुरमा घर

तान्या राज

महिलाओं को अपने माहवारी के समय क्या चाहिए होता है ? थोड़ा आराम, अपनापन, और अपना घर। लेकिन महाराष्ट्र के गढ़चिरौली जिले में रहने वाली कई आदिवासी समाज की महिलाओं से माहवारी के दिनों में उनका अपना घर ही छीन लिया जाता है। इस परंपरा का प्रचलन आमतौर पर माडिया गोंड समाज में है, पर यह इन तक सीमित नहीं है। महिलाओं को माहवारी के 3-7 दिन गाँव के बाहर एक "कुरमा घर" या "गांवकोर" में बिताने होते हैं, जो खास तौर पर माहवारी से गुजर रही औरतों के लिए ही बना होता है। पीपल्स आर्काइव्स ऑफ रूरल इंडिया, "परी" में छपे एक लेख के अनुसार इन कुरमा घरों में रोज़ाना के दिनों की आम सुविधाएं जैसे साफ़ पानी, बिजली, और शौचालय भी नहीं होते हैं। उन्हें जमीन पर एक पतली-सी चादर डाल के सोना पड़ता है। ऐसा केवल इसलिए किया जाता है। क्योंकि इन जन- जातीय समूहों का मानना है कि अपने माहवारी के समय औरतें अछूत ओर दूषित हो जाती है। इन्हें स्पर्श करना तो दूर, कोई इनसे बात भी नहीं करता। 'परी' के साथ साक्षात्कार में महिलाएं बताती हैं कि कैसे वो अपने मासिक धर्म के दिन आने से पहले ही डरने लगती हैं। इन कुरमा घरों मे खिड़कियाँ तक नहीं होती है, गर्मियों में हवा भी नहीं आ पाती, रात को बस चंद्रमा की हल्की रोशनी होती है, और शौच के लिए झाड़ियों में जाना पड़ता है। रात का मंज़र महिलाओं के लिए बहुत खौफनाक होता है। अकेले बाहर निकलने में उन्हें डर लगता है और दिन में अगल-बगल से गुजरते लोगों से छिपना पड़ता है कुरमा घर दशकों पहले के बने हुए हैं, इसमें कई जगह दरारें हैं, बांस निकल गए हैं, लेकिन इसकी मरम्मत भी इन्हें खुद ही करनी होगी क्योंकि कोई भी मर्द इस मासिक धर्म से अशुद्ध हुए घर को छूना भी पसंद नहीं करता। महिलाएं बताती है कि इस समय इस्तेमाल किए जाने वाले कपड़े या पैड्स भी वो अपने घर में नहीं रख सकती हैं। माहवारी में प्रयोग होने वाले कपड़ों को इन्हीं कुरमा घरों में टांग के रखा जाता है, जिस पर अक्सर छिपकलियां या चूहे चलते हैं। और जब महिलाएं इन्हें इस्तेमाल करती है तो उन्हें खुजली, चिड़चिड़ापन आदि समस्याओं का भी सामना करना पड़ता है।

फोटो स्रोत- डोनेट कार्ट वेबसाइट

बरामदा

फोटो स्रोत- द जगरनौट वेबसाइट

गाँव वालों का मानना है कि यदि ये प्रथा खंडित हुई तो ग्रामदेवता नाराज हो जाएंगे

सबसे ज्यादा परेशानी तो बरसात के मौसम में होती है जब ये कपड़ों से बने पैड्स दुर्गंध देते हैं और कई बार ठीक से सूखते भी नहीं है। कई औरतों ने तो कुरमा घरों में सांप या बिच्छू के काटने से भी अपनी जान गंवाई है। ये प्रथा कई सालों से प्रचलन में है। गाँव वालों का मानना है कि यदि ये प्रथा खंडित हुई तो ग्रामदेवता नाराज हो जाएंगे, लोगों को कई तरह की समस्याओं का सामना करना पड़ेगा और बीमारियाँ बढ़ेंगी,। भेड़-बकरियाँ और मुर्गियाँ मर जाएँगी। अगर कभी इस प्रथा का पालन करने में कोई चूक हो गई तो उसे पश्चाताप करने के लिए एक मुर्गी या बकरी की बलि चढ़ानी होगी। कई शिक्षित लोग भी इस प्रथा में शामिल हैं और इसका विरोध करने की हिम्मत नहीं करते हैं। इस परंपरा से लड़ने के लिए इन औरतों के सहयोग में कुछ सरकारी और कुछ गैर-सरकारी संस्थान भी सामने आए। संविधान के अनुच्छेद 17 के तहत किसी भी प्रकार का छुआछूत, चाहे वह माहवारी के समय का ही क्यों न हो, गैरकानूनी है। परंपरा और महिला सुरक्षा दोनों को मद्देनज़र रखते हुए सरकार द्वारा एक बीच का रास्ता निकाला गया। सरकार कई जगहों पर सुविधायुक्त कुरमा घरों का निर्माण करवा रही है ताकि महिलाओं को कम से कम बिजली, पानी जैसी सुविधाएं दी जा सकें, पर बीबीसी की रिपोर्ट के अनुसार कई सरकारी कुरमा घरों की हालत भी खस्ता है। पुणे के गैर-सरकारी संस्थान, समाजबंध, के संस्थापक सचिन और उनके कई सहायक गाँव घूम के लोगों को जागरूक करने का निरंतर प्रयास कर रहे हैं। कई गाँवों के मुखिया पैड्स को घर में एक पेटी में बंद करके रखने के लिए मान गए हैं। कुछ महिलाओं में भी जागरुकता आई है और उन्होंने कुरमा घर से, अपने घर के बरामदे तक का सफर तय कर लिया है। सरकारी कुरमा घर इन महिलाओं के समस्याओं का हल तो नहीं है, जड़ से इन समस्याओं को खत्म करने में अब भी बहुत वक्त लग सकता है, लेकिन ये एक आश्वासन जरूर है कि एक दिन इन महिलाओं को भी अपना घर वापस मिलेगा।

संघर्ष की चार दीवारें

घर से बेघर होने की कहानी

पूजा खोश्या

हर साल लाखों युवा एक सपना लेकर घर की दहलीज़ पार करते हैं। कोई IIT का सपना देखता है, कोई UPSC का, तो कोई नौकरी पाने का। वे इस उम्मीद के साथ कोटा, दिल्ली, हैदराबाद या मुंबई का रुख करते हैं कि बाहर की दुनिया उनके सपनों को पर देगी। लेकिन जब वे किसी अनजान शहर की तंग गली में एक छोटे से कमरे में पहुँचते हैं, तो घर का मतलब धीरे-धीरे बदलने लगता है। चार दीवारें, जो कभी आश्रय थीं, अब संघर्ष का मैदान बन जाती हैं।

"हम घर छोड़कर अपने सपने साकार करने आए थे - यहाँ आकर समझ आया कि सपने पाना दूर पहले ज़िंदा रहना सीखना होगा।"

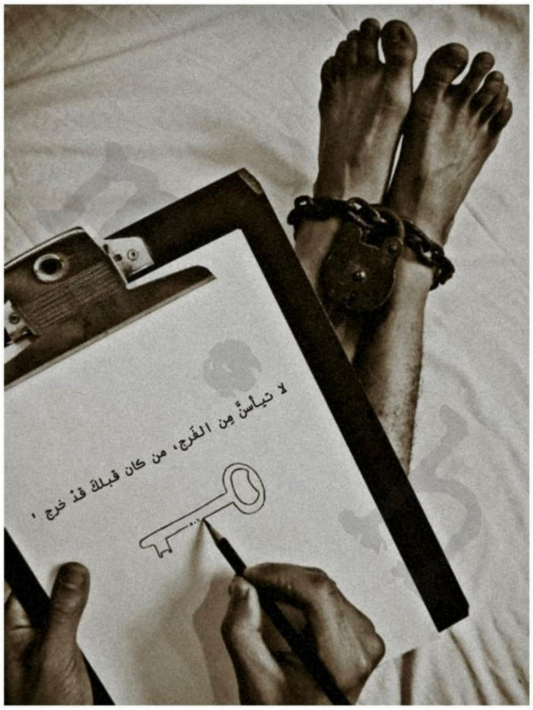

स्रोत: पिंट्रेस्ट

'कोचिंग सिटी' में जिंदगी: कोटा की कहानी

राजस्थान का कोटा शहर आज देश का सबसे बड़ा कोचिंग का केंद्र है। यहाँ हर साल देश के कोने-कोने से हर वर्ग के 2 लाख से अधिक विद्यार्थी IIT-JEE और NEET की तैयारी के लिए आते हैं। वे अपने साथ अपने माता-पिता की उम्मीदें, गाँव-शहर का सम्मान और खुद के सपने लेकर आते हैं।

लेकिन इस "फैक्ट्री" में सफलता की दर बहुत ही कम है। 2023 में, भारत के कोचिंग हब के रूप में मशहूर कोटा में छात्रों की आत्महत्या के 32 मामले सामने आए, जो 2015 के बाद से सबसे अधिक संख्या है।
आत्महत्या की दरों में लगातार वृद्धि चिंताजनक है, जिसमें 44.45% कोचिंग उम्मीदवारों को अत्यधिक शैक्षणिक तनाव का सामना करना पड़ रहा है।

हॉस्टल की दीवारों पर "आप कैमरे की नजर में हैं", "छत पर जाना मना है" जैसी चेतावनियाँ लिखी देखेने को मिलती हैं। आत्महत्या को रोकने के लिए जाल लगाए जाते हैं। लेकिनपर कोई यह नहीं पूछता कि इन बच्चों को छत की ओर जाने की इच्छा क्यों होती है ? क्या वे बस खुली हवा चाहते थे, जो उन तंग कमरों में नहीं मिलती थी ?

राजेंद्र नगर: जब पानी सपने निगल गया सपने

27 जुलाई 2024 की शाम, दिल्ली के पुराने राजेंद्र नगर में भारी बारिश हो रही थी। Rau's IAS Study Circle के तलघर में 30 से अधिक UPSC अभ्यर्थी पढ़ रहे थे। अचानक एक तेज़ रफ्तार गाड़ी ने गेट तोड़ा और बाहर सड़क पर जमाका बाढ़ का पानी महज कुछ ही मिनटों में बेसमेंट में भर गया।

बेसमेंट में केवल एक बायोमेट्रिक लॉक था- जो बंद हो गया। पानी के निकलने का कोई रास्ता नहीं था। कुछ छात्र अंधेरे में चीखते-चिल्लाते, और एक-दूसरे को सहारा देते हुए बाहर निकलने में कामयाब हो गए। लेकिन तीन उतने खुशनसीब नहीं थे।

तीनों छात्र - श्रेया यादव (उत्तर प्रदेश), तान्या सोनी (तेलंगाना), और निविन डालविन (केरल)- तीनों देश के अलग-अलग कोनों से IAS बनने का सपना लेकर दिल्ली आए थे IAS बनने। उनके सपने उनके साथ उस दिन बेसमेंट के पानी में डूब गए।
नगर निकाय की कार्रवाई रिपोर्ट के अनुसार, 56% से अधिक उल्लंघनकर्ताओं के पास स्वीकृत भवन योजनाएँ भी नहीं थीं।
दिल्ली नगर निगम ने ओल्ड राजेंद्र नगर और करोल बाग में कई बेसमेंट और 13 कोचिंग संस्थानों को सील कर दिया।

एक UPSC अभ्यर्थी ने उसी हफ़्ते देश के मुख्य न्यायाधीश को चिट्ठी लिखी-
"हमें यहाँ कीड़े-मकोड़ों की तरह जीने पर मजबूर किया जाता है।"
यह महज एक व्यक्ति का दर्द नहीं था,-बल्कि राजेंद्र नगर और मुखर्जी नगर में रह रहे हज़ारों बच्चों की आवाज़ थी, जो हर रोज़ इन्हीं बेसमेंट में, इन्हीं तंग PG में, इसी व्यवस्था के भरोसे जी रहे हैं।

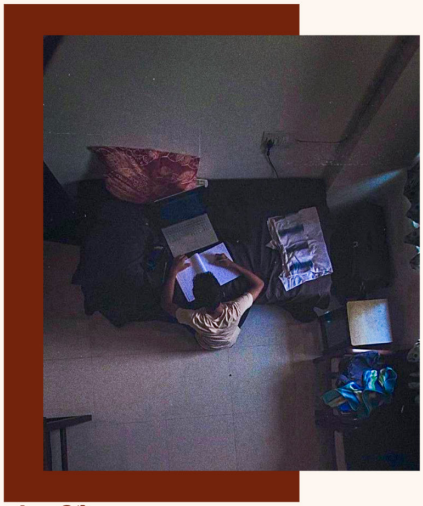

स्रोत: पिंट्रेस्ट

> ***"कुछ बच्चों के सपने बेसमेंट के पानी में डूबते हैं- कुछ के सपने घर की चौखट पर ही दम तोड़ देते हैं।"***

"दो दीवारें- एक ही कैद

इस पूरी बहस में उन लड़कियों की आवाज़ अनसुनी रह जाती है जो कभी इन शहरों तक पहुँच ही नहीं पातीं। 2019 में, 15-18 साल की 40% लड़कियों ने स्कूल छोड़ दिया, ताकि वे घर के कामों में मदद कर सकें।

वर्तमान में भारत की विवाहित महिलाओं में से 55% का विवाह 14-19 वर्ष की आयु के बीच हुआ था, और 34 लाख लड़कियाँ 15-19 वर्ष की आयु के बीच माँ बन गई थीं।(जनगणना 2011)
2025 में देश के सबसे प्रतिष्ठित भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थानों (- IITs)- में भी B.Tech की पढ़ाई करने वाली लड़कियाँ केवल 20.15% हैं, यानी हर पाँच छात्रों में केवल एक छात्र लड़की है। 2018 में शुरू हुई सुपरन्यूमेरी सीट्स स्कीम के बावजूद 2020 से 2025 के बीच यह आँकड़ा लगभग स्थिर रहा।

इसका कारण केवल सीटों की कमी नहीं है,। बल्किलड़कियों के परिवारोंर का डर है कि "लड़कियों को बाहर भेजेंगे तो क्या होगा", उनकी सुरक्षा की चिंता, सामाजिक दबाव और यह धारणा कि लड़की की पढ़ाई पर खर्च "निवेश" नहीं, "बोझ" है।
यानी एक ओर तरफ वे बच्चे हैं जो घर से बाहर आकर संघर्ष की चार दीवारों में पिस रहे हैं- और दूसरी ओर तरफ वे लड़कियाँ हैं जिनके लिए घर की चार दीवारें ही संघर्ष का मैदान बन जाती हैं। दोनों के लिए "घर" एक अलग तरह की क़ैद है।

विपाशना ठाकुर के द्वारा

// विपाशना ठाकुर//

एक बच्चे की अनोखी और कल्पनाओं भरी दुनिया को दर्शाता हुआ, यह दृश्य Taare Zameen Par से लिया गया है।

अपनेपन का आँगन

पलक कश्यप

हिंदी साहित्य और सिनेमा में मानवीय संबंधों को गहराई और संवेदनशीलता के साथ प्रस्तुत किया गया है। कहानियों और फिल्मों में मिठास और कड़वाहट से भरे इन रिश्तों का बखान कभी प्यार तो कभी डांट के रूप में होता है।

इन रिश्तों की यह हलचल किसी भी स्थान को अपनेपन से भर देती है। यह आत्मीयता ही लोगों को घर जैसा अनुभव और शांति प्रदान करती है। इस प्रक्रिया में जगह का महत्व गौण हो जाता है।

जहाँ भी व्यक्ति को सुरक्षा, लगाव और जुड़ाव का अनुभव होता है, वही स्थान या व्यक्ति उसके लिए घर बन जाता है।

कबीरदास का एक प्रसिद्ध दोहा है-

"ऐसी वाणी बोलिए, मन का आपा खोय,
औरन को शीतल करे,
आपहुं शीतल होय।"

ये पंक्तियाँ हमें सिखाती हैं कि संबंधों में मधुरता और संवेदनशीलता का होना कितना आवश्यक है । जब हम एक-दूसरे के प्रति समझदारी और आत्मीयता दिखाते हैं, तभी वे बंधन हमें वह सुकून देते हैं, जिसकी चाह हर इंसान को होती है।

फिल्म "तारे ज़मीन पर" इस भावनात्मक अनुभव को पर्दे पर बखूबी उकेरती है। कहानी में ईशान अवस्थी नाम का एक बच्चा है जिसे अनुशासन और उज्ज्वल भविष्य के लिए हॉस्टल भेजा जाता है । वहाँ सभी आधुनिक सुविधाएं उपलब्ध थीं और अनेक बच्चे भी थे, फिर भी ईशान खुद को बेहद अकेला पाता है।

इसका मूल कारण है - आत्मीयता की अनुपस्थिति। माँ की ममता और स्नेह जो उसे घर में मिलता था, वह वहाँ नहीं था। हॉस्टल में कोई भी ऐसा न था जो उसकी बात ध्यान से सुन सके या उसे उस गहराई से समझ सके जैसे उसकी माँ समझती थी । इसीलिए, बच्चों से भरे उस परिवेश में भी वह भीतर से अकेला रहा ।

तब उसके शिक्षक राम शंकर निकुंभ उसकी बातें धैर्य से सुनते हैं और उसे पहचानते हैं। इस माहौल में उसे अपनेपन की अनुभूति होती है, और उसके शिक्षक उसके लिए एक आश्रय बन जाते हैं।

वह उनसे अपने मन की बातें साझा करता है, उनके साथ हँसता है, और कभी-कभी फटकार भी सुनता है। यही लगाव और सुरक्षा का भाव उसे नई ऊर्जा से भर देता है और शिक्षक के रूप में उसे एक नया सहारा मिल जाता है।

इसी तरह, मुंशी प्रेमचंद जी की चर्चित रचना "बड़े भाई साहब" भी रिश्तों के इस खट्टे-मीठे पहलू को मार्मिक ढंग से चित्रित करती है।

इस कथा में बड़ा भाई छोटे भाई को अनुशासन और परिश्रम का महत्व बताने के लिए प्रायः कठोर रहता है । छोटे भाई को उसकी सख्ती कभी-कभी भारी लगती है, किंतु वास्तव में उसके पीछे बड़े भाई की गहरी चिंता और स्नेह छिपा होता है। समय बीतने के साथ, छोटे भाई को यह अनुभव होता है कि वह कठोरता उसके हित के लिए थी।

यही भावनात्मक जुड़ाव और दायित्व उस नाते को विशेष बनाता है । प्रेम और देखभाल के साथ-साथ कभी-कभी थोड़ी दृढ़ता भी व्यक्ति को और अधिक अपनत्व का बोध कराती है।

वास्तव में, ईंट और पत्थर से निर्मित मकान हर जगह मिलते हैं, लेकिन सच्चा घर तब बनता है जब उसमें अपने लोग हों । उनकी भावनाएँ, स्नेह और कभी-कभी की डाँट-फटकार, सब मिलकर उस स्थान को घर बनाती हैं । चाहे परिस्थिति कैसी भी हो, अस्पताल का बिस्तर हो या कोई अन्य कठिनाई, हम सदा अपने प्रियजनों को अपने निकट अनुभव करते हैं, और यही हर मनुष्य का वास्तविक निवास है। शायद इसीलिए बच्चों को माँ की डाँट भी बुरी नहीं लगती, क्योंकि उसमें छिपा प्रेम और सुरक्षा का भाव उन्हें चैन देता है।

इस प्रकार, यह कहना उचित होगा कि घर केवल चार दीवारों की संरचना नहीं है। यह उन भावनाओं और रिश्तों से निर्मित होता है जो हमें हमारे प्रियजनों से जोड़ते हैं। सच तो यह है कि जहाँ अपनत्व और प्रेम मिले, वही स्थान मनुष्य का सच्चा घर बन जाता है।

मीट टू स्लीप

स्त्री वर्चस्व की ओर एक कोशिश

ऋषिका गुप्ता

क्या भारत में महिलाएं सच में आज़ाद हैं, या आज़ादी अभी भी डर के साये में कैद है ?

निर्भया हत्याकांड हमारे दिमाग में छप चुका है। 16 दिसंबर 2012 की वह रात, जिसने पूरे देश को हिला कर रख दिया था।

इस घटना के बाद कानून बदले, हेल्पलाइन और सुरक्षा व्यवस्था शुरू हुई। लेकिन क्या सोच में परिवर्तन आया ? क्या आज भी स्त्री खुले आसमान के नीचे बिना डर के सो सकती है ? शायद नहीं। और इसी सवाल से जन्म हुआ "मीट टू स्लीप" अभियान का, जिसे जस्मीन पटहेजा ने शुरू किया था। इस अभियान में महिलाएँ एक साथ सार्वजनिक स्थानों पर खुले आसमान के नीचे सोती हैं; केवल नींद के लिए नहीं, बल्कि अपनी आज़ादी को महसूस करने के लिए। उनका मकसद उस डर को चुनौती देना है, जो सदियों से उनके साथ जोड़ा गया है और निडरता के एहसास को जीना है।

इस अभियान की शुरुआत 2008 में हुई और 2015–2019 के बीच इसे एक मजबूत रूप मिला। कई महिला संगठनों और नारीवादी समूहों ने मिलकर इसे आगे बढ़ाया। यह पहल ज्योति सिंह 'निर्भया की याद से भी जुड़ी है।

अगर हम आँकड़ों की बात करें, तो राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड ब्यूरो (NCRB) की 'क्राइम इन इंडिया 2023' रिपोर्ट के अनुसार, 2022 में महिलाओं के खिलाफ अपराध के मामले 4,45,256 तक पहुँच गए, यानि हर घंटे करीब 50 से ज्यादा मामले।

इनमें बलात्कार, दहेज हत्या, घरेलू हिंसा और कई अन्य अपराध शामिल हैं। और हजारों कहानियाँ तो आज भी डर के साये में दबकर रह जाती हैं।

आज हम 21वीं सदी में जी रहे हैं, जहाँ हमारा संविधान स्त्रियों को बराबरी का अधिकार देता है।

लेकिन एक प्रश्न उठता है। क्या ये अधिकार सिर्फ कागज़ तक ही सीमित हैं ? कानून तो बहुत बने

लेकिन जमीनी सच्चाई एक अलग ही कहानी बयान करती है।

हमारा समाज आज भी पितृसत्ता से प्रभावित है | हमेशा से ही पुरुषों ने अपना वर्चस्व बनाए रखने की कोशिश की है, चाहे वह "संस्कार" के नाम पर पाबंदियाँ लगाना हो, महिलाओं को घूँघट के पीछे छिपाना हो, या यह कहना कि "अच्छी लड़कियाँ ज़्यादा नहीं बोलती"।

इतिहास से आज तक की कहानी देखें - तो कभी सोचा है कि स्त्री जीवन सदैव से ही इतना कठिन और दुखदायी क्यों रहा है ? स्त्री का संघर्ष आज का नहीं है, बल्कि सदियों पुराना है। चाहे बात हो सावित्रीबाई फुले की जिन्होंने समाज की रूढ़ियों को तोड़ते हुए शिक्षा की राह बनाई, और मैरी कॉम जैसी महिलाओं ने कठिन परिस्थितियों में भी अपने सपनों को साकार किया। स्त्रियों को हमेशा से ही खुद को साबित करने पर मजबूर किया गया है। और फिर भी, समाज ने उनकी पहचान को अक्सर केवल रसोई तक सीमित कर दिया। तो क्या एक औरत सिर्फ खाना बनाने के लिए बनी है ?

जैसे टीवी शो 'लापता लेडीज़' में एक बहुत सरल और गहरी बात कही गई है —

"औरत अनाज उगा भी सकती है, पका भी सकती है, बच्चा पैदा भी कर सकती है, बड़ा भी कर सकती है। देखने जाएँ तो औरतों को मर्द की कौनो खास ज़रूरत वैसे है नहीं। और ई बात अगर औरतों को पता चल गई, तो मर्द बेचारा का बाजा ना बजाएगा"।

यह केवल एक संवाद नहीं, बल्कि सदियों पुरानी सोच पर सीधा सवाल है। जब तक एक स्त्री बिना डर के जी नहीं सकती, तब तक समाज सच में आज़ाद नहीं हो सकता है।

फोटो स्त्रोत- मीट टू स्लीप वेबसाइट

परदे पर अपना शहर

भोपाल की गलियों में 'घर' के बदलते मायने

इरा व्यास

सिनेमा जब किसी शहर को अपनाता है, तो वह केवल ईंट-पत्थर की इमारतों को नहीं, बल्कि वहाँ की हवाओं में घुले सुकून को भी कैमरे में कैद करता है। प्रकाश झा की 'राजनीति' और 'आरक्षण' जैसी फिल्मों में मेरे शहर भोपाल को एक भव्य सत्ता केंद्र के रूप में उभरा है। यहाँ की वीआईपी रोड और विधानसभा के गलियारों को 'वाइड एंगल्स' और 'कोल्ड लाइटिंग' के साथ दिखाया गया है, जो शहर की प्रशासनिक गंभीरता और ऊँचाइयों को दर्शाता है। प्रकाश झा की 'राजनीति' और 'आरक्षण' जैसी फिल्मों में भोपाल की वह भव्यता उभरती है जो यहाँ के जनजीवन का अभिन्न अंग है। जब कैमरे का लेंस शहर के अलग-अलग स्थानों को छूता है, तो एक भोपाली होने के नाते वह अहसास पूरी तरह 'अपना' सा लगता है क्योंकि यहाँ की व्यवस्था और समाज अलग-अलग नहीं हैं । यह एक ही पहचान का हिस्सा है। यह चित्रण हमें बताता है कि हमारा घर केवल एकांत की कोई जगह नहीं है।

गुल्लक सीरीज़ : गुल्लक शो के कथावाचक के नज़रिए से परिवार को दर्शाती है।

यह उन ऊँची इमारतों और ठहरी हुई झीलों के बीच रची-बसी हमारी अपनी अस्मिता का एक अटूट और मजबूत स्तंभ है। इसके विपरीत, भोपाल की तंग गलियों और मध्यमवर्गीय घरों की सोंधी महक को 'गुल्लक' ने जिस बारीकी से पकड़ा है, वह 'घर' की परिभाषा को दीवारों से निकालकर रिश्तों के बीच ले आता है । इब्राहिमपुरा के उस पुराने घर में सेट यह शो 'वार्म लाइटिंग' और प्राकृतिक छाया का उपयोग करता है, जिससे ऐसा प्रतीत होता है मानो हम अपने ही पुराने आँगन में बैठे हों। यहाँ वेशभूषा में कोई तड़क-भड़क नहीं है; सादे सूती कुर्ते और घर की पुरानी साड़ियाँ उस मध्यमवर्गीय संघर्ष को दर्शाती हैं जिसे हर भोपाली परिवार ने कभी न कभी जिया है। संवादों में 'अमाँ खाँ' और 'भिया' जैसी स्थानीय मिठास और घर के सेट-अप में रखे पुराने फर्नीचर, दीवारों की सीलन और रसोई की खटर-पटर यह साबित करती है कि घर 'परफेक्शन' में नहीं, बल्कि उन छोटे-छोटे 'किस्सों' में बसा होता है जो एक परिवार को जोड़कर रखते हैं।

जब हम भोपाल के शहरी परिवेश से थोड़ा बाहर सीहोर की पगडंडियों की ओर रुख करते हैं, तो 'पंचायत' और 'लापता लेडीज़' जैसे दृश्य काव्य हमें अपनी जड़ों की ओर ले जाते हैं। महोड़िया गाँव के खेतों और कच्चे रास्तों पर फिल्माई गई ये कहानियाँ मध्य प्रदेश के ग्रामीण अंचल की उस सादगी को उजागर करती हैं, जो आज के भागदौड़ भरे जीवन में गायब होती जा रही है। यहाँ 'लाइटिंग' सूरज की पहली किरण और शाम के धुंधलके जितनी ही असली है। 'पंचायत' की पानी की टंकी और 'लापता लेडीज़' का वह साधारण-सा रेलवे स्टेशन केवल फिल्म के सेट नहीं, बल्कि उस माटी की पहचान हैं जहाँ 'घर' का मतलब अपनापन हो जाता है। इन फिल्मों में इस्तेमाल किए गए चटख रंग के घूँघट और साधारण कुर्ते-पजामे जैसे कॉस्ट्यूम्स ग्रामीण परिवेश की गरिमा को बनाए रखते हैं। भोपाल और उसके आस-पास का यह सिनेमा का सफर हमें समझाता है कि घर चाहे शहर की भव्यता में हो या गाँव की सरलता में, वह हमेशा हमारे दिल के सबसे करीब होता है । चाहे वह 'राजनीति' के ऊँचे शिखरों की चमक हो, 'ग़ुल्लक' के आँगन की मद्धम रोशनी, या फिर 'पंचायत' और 'लापता लेडीज़' की धूल भरी पगडंडियाँ, ये सभी हमारे वजूद के अलग-अलग हिस्सों को जोड़ती हैं । जब परदे पर हमारे शहर की वही जानी-पहचानी दीवारें और झीलें दिखती हैं, तो दिल अनायास ही कह उठता है कि हम चाहे कहीं भी हों, हमारी रूह का एक हिस्सा हमेशा इसी मिट्टी में महकता रहेगा।

पूरे घर का वह दृश्य जिसमें सब कुछ बहुत ही साधारण और पुराने जमाने का है, ठीक वैसे ही जैसे पुराने भोपाल में चीजें हुआ करती थीं।

भोपाल और इसके आस-पास के इलाकों को जिस तरह परदे पर उतारा गया है, वह हमें अपने ही घर को एक नए नज़रिए से देखने की प्रेरणा देता है। यह दिखाता है कि एक साधारण घर की पुरानी दीवारें और गाँव के रास्ते उतने ही सम्मान के काबिल हैं जितनी कि शहर की बड़ी और सुंदर इमारतें। यहाँ की कहानियाँ दिखावे की बनावट से दूर रहकर उस अपनेपन की तलाश पूरी करती हैं जो हमारे दिल के किसी कोने में शांत बैठा है। अंततः, यह पूरा अनुभव हमें अपनी ही मिट्टी और अपनी ही जड़ों के एक ऐसे रूप से जोड़ता है, जिसे हम गर्व के साथ अपनी पहचान का हिस्सा कह सकते हैं।

लापता लेडीज़: *महिलाएं हमेशा पुरुषों की छाया में रहती हैं और पुरुष उन्हें छिपाकर रखना चाहते हैं।*

घर और भावनात्मक श्रम

आँचल गुप्ता

"भावनात्मक श्रम" से आप क्या समझते हैं ? अगर घर के सन्दर्भ में इसका मतलब समझें तो हमारे दिमाग में सबसे पहली तस्वीर किसी महिला की ही आती है, जो किसी कि बहन, बहू, बेटी या माँ होती है। आप सोच रहे होंगे कि ' भावनात्मक' शब्द के साथ 'श्रम' क्यों जोड़ा गया है ? इसका जवाब यह है कि यह 'भावनात्मक श्रम' भी एक काम है, जिसे हम कार्य के रूप में या हमारी अर्थव्यवस्था में योगदान के रूप में नहीं देखते हैं।

मैं आपको इसका अर्थ समझाती हूँ। हमारा समाज एक पुरुष प्रधान समाज है। यहाँ जब कोई आदमी नौकरी करके और पैसा कमाकर वापस घर लाता है तो उसकी आमदनी को अर्थव्यवस्था में योगदान माना जाता है । परंतु इसके विपरीत एक औरत,जो अपना योगदान घर के पुरुष का ख्याल रखने में दे रही है, उसे समय पर खाना बनाकर खिला रही है घर में सबकी जरूरतों को पूरा कर रही है, और घर में शांति का माहौल बनाए रख रही है, जिससे पुरुष की मानसिक स्थिति संतुलित है,वह खुश है और अपने जीवन में आगे तरक्की कर रहा है, उस औरत के श्रम को कार्य नहीं समझा जाता है।

तो अब बताइए, कि क्या उस स्त्री के भावनात्मक श्रम को हमारी अर्थव्यवस्था में योगदान माना जाए या नहीं ?

//जागृति चौधरी//

समाज भी इसे ऐसे ही देखता है । वह बचपन से ही लड़कियों को समझदार और स्थिति के अनुसार ढलना सिखाता है, जो की एक हद तक सही भी है। परंतु अगर लड़कों को भी बचपन से ही यही सब बातें सिखाई जाएं, तो भविष्य में यह कितना अच्छा साबित होगा। लेकिन हमारे समाज में लड़कों के लिए बचपन से ही यह कहा जाता है कि वह तो समय के साथ सीख लेगा । इसके अनुसार तो भावनात्मक श्रम के संदर्भ में भी लैंगिक असमानताएँ समाज में आज भी मौजूद हैं।कभी-कभी तो महिला को अपना पेशा और घर दोनों ही संभालते होते हैं वह नौकरी करके जब घर आती है तो घर की जिम्मेदारियाँ उसका इंतज़ार कर रही होती हैं।यह कितने दुर्भाग्य की बात है कि हम उसके योगदान को हमारी अर्थव्यवस्था में गिनते ही नहीं हैं । वेनिज़ुएला में, ह्यूगो चावेज़ के शासनकाल में, घरेलू श्रम को एक आर्थिक गतिविधि के रूप में कानूनी मान्यता दी गई थी। वहाँ के संविधान में यह वर्णित है कि घरेलू काम का आर्थिक महत्व है और इसे पहचाना जाना चाहिए। इसके लिए महिलाओं को भत्ता भी दिया जाता था । यह भुगतान विशेष रूप से गरीबी रेखा से नीचे रहने वाले परिवारों के लिए था। ट्रम्प प्रशासन आने के बाद, से अमेरिकी प्रतिबंधों ने वेनिज़ुएला की अर्थव्यवस्था पर और दबाव डाला है, जिससे ये सहायता योजनाएँ और कमजोर हो गई हैं।

विशेषज्ञों के अनुसार लगातार दूसरों के लिए भावनात्मक श्रम करने से व्यक्ति कभी-कभी खुद में भी तनाव, थकान और परेशानियाँ महसूस करने लगता है। और तो और, कभी-कभी महिलाओं को अपनी नौकरी भी छोड़नी पड़ती है ताकि वो अपने बच्चों, परिवार और घर का ख्याल रख सकें। कुछ समय के बाद वही गृहिणी अपने पेशेवर जिंदगी में अपनी पहचान खो देती है।

भावनात्मक श्रम ऐसा अदृश्य काम है, जो घर को जोड़कर रखता है, लेकिन अधिकतर इस श्रम को कोई पहचान या सराहना नहीं मिलती है। यह केवल व्यक्तिगत नहीं, बल्कि एक गहरा सामाजिक मुद्दा है, जो लैंगिक असमानता से जुड़ा हुआ है। जब तक समाज इस श्रम को मान्यता देकर इसे बराबरी से बाँटने की दिशा में कदम नहीं उठाएगा, तब तक यह बोझ एक ही वर्ग पर बना रहेगा । इसलिए आवश्यक है कि हम घर के भीतर किए जा रहे इस भावनात्मक श्रम को स्वीकार करें, उसकी कद्र करें और जिम्मेदारियों को साझा करें। तभी एक संतुलित और समानता पर आधारित समाज का निर्माण संभव हो पाएगा।

घर की चारदीवारी के पीछे छिपा अदृश्य डर।

घर हर किसी के लिए सुरक्षित नहीं है

अंशिका कटियार

काशवी भाटिया, विपाशना ठाकुर के द्वारा

सुरक्षा क्या है ? हर व्यक्ति के लिए सुरक्षा का अर्थ एक जैसा नहीं होता। कुछ लोगों के लिए यह परिवार में छिपी होती है, तो कुछ के लिए पैसा या पहचान ही उन्हें सुरक्षित महसूस कराती है। लेकिन अगर देखा जाए, तो इसका असली अर्थ एक ही होता है- वह स्थान, स्थिति या संबंध जो हमें सुरक्षित, निडर और सम्मानित महसूस करवाए। समाज में अक्सर माना जाता है कि महिलाओं के लिए खतरा बाहर की दुनिया में अधिक है। इसलिए उन्हें सीमाओं में रहने और देर रात से पहले घर लौट आने की सलाह दी जाती है। लेकिन सवाल यह है कि क्या खतरा केवल बाहर ही मौजूद है ? नहीं, हकीकत यह नहीं है। कई बार उन्हें अपने ही घर में असुरक्षा का सामना करना पड़ता है। राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड ब्यूरो (NCRB) की रिपोर्ट के अनुसार, भारत में महिलाओं के खिलाफ होने वाले कई अपराध किसी घर के सदस्य या जान-पहचान वाले व्यक्ति द्वारा किए जाते हैं। जिसकी वजह से महिलाएँ अपने घर से ज्यादा बाहर रहना पसंद करती हैं। यहाँ तक कि तीज-त्योहारों पर भी वे अपने घर आने से संकोच करती हैं। यह सुनने में अजीब लग सकता है, लेकिन इसके पीछे कई वजहें हो सकती हैं, जैसे, परिवार में लगातार बहस, माता-पिता या भाई-बहनों से बुराई, बार-बार डाँट, मानसिक दबाव या अपने लिए थोड़ा सा भी 'पर्सनल स्पेस' का न मिलना। ऐसी स्थिति में वे अपने ही स्पेस में अपनी बात कहने से पहले सोचती हैं, 'कहीं कोई गलत न समझ ले' या 'फिर से डाँट न पड़ जाए'। समय के साथ वे चुप रहना सीख जाती हैं। वे हँसती तो हैं, लेकिन दिल से नहीं, और खुलकर अपनी बात नहीं कह पातीं। अपनों के बीच रहकर भी उन्हें अपनापन महसूस नहीं होता। जब किसी महिला की बात सुनी न जाए, या हर समय तनाव और झगड़े का माहौल बना रहे, तो वही जगह सुकून देने के बजाय बोझ लगने लगती है। कई बार घरेलू हिंसा या मानसिक उत्पीड़न स्थिति को और कठिन बना देते हैं।

लेखिका वर्जिनिया वुल्फ ने अपनी पुस्तक "अ रूम ऑफ वन्स ओन" में लिखा है

फ़ोटो: टीम बरामदा

"यदि किसी स्त्री को लेखन करना है, तो उसके पास धन और अपना एक निजी कमरा होना चाहिए"

यहाँ 'निजी कमरा' केवल एक कमरा नहीं, बल्कि ऐसा माहौल है जहाँ वह बिना डर के खुद को व्यक्त कर सके। इसलिए यह कहना बिल्कुल सही है कि कोई भी स्थान तभी असली मायने में अपना बनता है, जब वहाँ अपनापन, समझ और खुलापन हो, जहाँ एक महिला बिना किसी डर के खुद जैसी है, वैसी रह सके। खुशहाली केवल बाहरी सुविधाओं से नहीं, बल्कि आपसी सम्मान, प्यार, समझ, और सहयोग से बनती है। हर महिला के लिए इस माहौल का अर्थ अलग हो सकता है; किसी के लिए यह सुकून का एहसास है, तो किसी के लिए वही जगह तनाव और दबाव का कारण बन जाती है। अतः यह केवल चार दीवारों का नाम नहीं है, बल्कि वह स्थान है जहाँ एक महिला अपने मन की बात खुलकर कह सके और हर मुश्किल घड़ी का सामना करने की हिम्मत पा सके। याद रखिए, जब तक एक महिला अपने ही घर में सुरक्षित महसूस नहीं करेगी, तब तक समाज की सुरक्षा अधूरी ही रहेगी।

FACULTY CORNER

HOME AS MEMORIES

Dr. Mansiha Tomar

Many of us picture a home as being created by the four walls of a house, the neighbourhood, and how we enter it each day. But, homes are more about memories than locations. It is the memory of our lives that becomes our home. It carries all the pieces of the people, emotions, and experiences that are part of the tapestry of our lives. My personal vision of home consists of the memories that I have created through sound, the frequency of daily routines, and the people who have made those memories worth expending. When we recall our childhood houses, we seem to have less of a concrete record of them than we do of our feelings. The memories we have no longer serve the purpose of being a record of something in history, but instead feel like a private oasis from the world. Some people also come to be symbolic homes, and memories of them can last for years after they have disappeared from our lives. Their presence becomes part of our inner landscape, creating an environment of safety and security within us. In addition to people, many institutions become places of symbolic memory in retrospect. Although they may have felt transitional at the time, through memory, they are elevated to formative places that define who we are as individuals. The human memory is also subject to interpretation, and changes. A memory would have different meanings throughout our lives. In many ways, memory is both a place to call home, and a process that will perpetually grow and change. One of the reasons the idea of home presents a bittersweet feeling is that it has the components of a tangible home as well as an intangible home. We can never go back to the same home of our past, but rather carry it inside ourselves and experience it through memories. Home is relative and has a different meaning during times of changes, uncertainty, or loneliness, providing us the understanding that a sense of "*belonging*" does not always equal being in a specific place but rather in the continuity of what we hold onto through time.

MS. MAMTA
TIC, JOURNALISM

DR. AAHANA CHOPRA
ASSISTANT PROFESSOR

DR. MANISHA TOMAR
ASSISTANT PROFESSOR

मुझे आप सभी को बधाई देते हुए बहुत खुशी हो रही है, जिन्होंने इस शानदार प्रोजेक्ट पर काम किया है। दिल्ली विश्वविद्यालय के कालिंदी कॉलेज में पत्रकारिता विभाग के ***असिस्टेंट प्रोफेसर*** के तौर पर, आप सभी को शुभकामनाएँ देकर आपका सहयोग करना मेरे लिए एक सम्मान की बात रही है।

"घर: भीतर और बाहर" (Home: Within and Beyond) विषय पर विचार करते हुए, आपने कहानी कहने, दृश्य अभिव्यक्ति और गहन पड़ताल की शक्ति को प्रदर्शित किया है। अपनी व्यक्तिगत कहानियों के माध्यम से, आपने व्यक्तिगत अनुभवों और सामूहिक समझ से जुड़ी व्यापक चर्चाओं में अपना योगदान दिया है। कलाकृतियों के निर्माण में आपके समर्पण, मौलिकता और अकादमिक ईमानदारी के लिए मैं आप सभी की सराहना करना चाहता हूँ; मुझे विश्वास है कि यह पत्रिका आपकी प्रतिभा, जिज्ञासा और दूसरों के साथ महत्वपूर्ण विचारों को साझा करने के साहस का एक जीता-जागता प्रमाण बनेगी।

डॉ. मनीषा तोमर

DR. VINAY KUMAR RAI
ASSISTANT PROFESSOR

DR. KESHAV PATEL
ASSISTANT PROFESSOR

DR. PRAVEEN GAUTAM
ASSISTANT PROFESSOR

DR. BHARTI
ASSISTANT PROFESSOR

DR. GYAMAR NEMEY
ASSISTANT PROFESSOR

दीवारों से परे एक पत्रकार का डिजिटल घर

"घर" शब्द सुनते ही मन में एक स्थिर, सुरक्षित और आत्मीय स्थान की छवि उभरती है; चार दीवारें, परिचित चेहरों की गर्माहट और विश्राम का अहसास। किंतु समकालीन पत्रकारिता के परिप्रेक्ष्य में यह परिभाषा तेजी से बदल रही है। आज के पत्रकार के लिए "घर" केवल भौतिक स्थान नहीं रहा, बल्कि एक गतिशील, डिजिटल और मानसिक संरचना में परिवर्तित हो चुका है। पत्रकारिता का स्वभाव समय की सीमाओं को स्वीकार नहीं करता। लगातार बदलते असाइनमेंट, अनियमित कार्यघंटे और "ब्रेकिंग न्यूज़" की निरंतरता पत्रकार को भौतिक घर से दूर ले जाती है। धीरे-धीरे उसका लैपटॉप, मोबाइल और कार्यस्थल ही उसका वास्तविक "घर" बन जाते हैं; वह जगह जहाँ वह विचारों को गढ़ता है, भावनाओं को अभिव्यक्त करता है और दुनिया को समझने की कोशिश करता है। डिजिटल युग ने 24×7 न्यूज़ साइकिल के साथ घर और दफ्तर की सीमाएँ धुंधली कर दी हैं। पत्रकार अपने घर में रहते हुए भी वास्तव में "घर" में नहीं होता। जब काम ही घर बन जाता है, तो परिवार और निजी समय पीछे छूट जाते हैं। फिर भी कई पत्रकार इसे चुनौती नहीं, बल्कि एक नई पहचान के रूप में स्वीकार करते हैं। अंततः, समकालीन पत्रकार के लिए "घर" एक प्रवाहमान विचार है; जो दीवारों से नहीं, बल्कि उन स्क्रिप्ट से बना है जिन्हें वह जीता और लिखता है।

डॉ. केशव पटेल